श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

उद्धव गीता (11.28)

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्री कृष्ण तैयार।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः

॥ अष्टाविं(म्)शोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि, न प्रशं(म्)सेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं(म्) पश्यन्, प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ 1॥

भगवान् ने कहा : मनुष्य को चाहिए कि किसी अन्य व्यक्ति के बद्ध स्वभाव तथा कर्मों की न तो प्रशंसा करे, न ही आलोचना। प्रत्युत उसे इस जगत को प्रकृति तथा भोक्ता आत्माओं का संमेल ही मानना चाहिए क्योंकि वे सभी एक परम सत्य पर आश्रित हैं।

परस्वभावकर्माणि, यः(फ्) प्रशं(म्)सति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्था- दसत्यभिनिवेशतः ॥ 2॥

जो भी व्यक्ति दूसरों के गुणों तथा आचरण की प्रशंसा करता है या आलोचना करता है, वह मायामय द्वैतों में फँसने के कारण अपने उत्तमोत्तम हित से शीघ्र विपथ हो जाएगा।

तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने, पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।

मायां(म्) प्राप्नोति मृत्युं(वँ) वा, तद्वन्नानार्थदृक् पुमान् ॥ 3॥

जिस तरह देहधारी आत्मा की इन्द्रियाँ स्वप्न देखने के भ्रम या मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था के द्वारा परास्त हो जाती हैं, उसी तरह भौतिक द्वन्द्व का अनुभव करने वाले व्यक्ति को मोह तथा मृत्यु का सामना करना पड़ता है।

किं(म्) भद्रं(ङ्) किमभद्रं(वँ) वा, द्वैतस्यावस्तुनः(ख्) कियत् ।

वाचोदितं(न्) तदनृतं(म्), मनसा ध्यातमेव च ॥ 4॥

जो कुछ भौतिक शब्दों से व्यक्त किया जाता है या मन के द्वारा ध्यान किया जाता है, वह परम सत्य नहीं है। अतएव द्वैत के इस असार जगत में, वस्तुतः क्या अच्छा या क्या बुरा है और ऐसे अच्छे तथा बुरे की मात्रा को कैसे मापा जा सकता है?

छाया प्रत्याह्वयाभासा, ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।

एवं(न्) देहादयो भावा, यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ 5॥

यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के भ्रामक प्रतिबिम्ब ही होती हैं, किन्तु ये प्रतिबिम्ब अर्थपूर्ण या ज्ञेय भाव का सादृश्य उत्पन्न करते हैं। इसी तरह यद्यपि शरीर, मन तथा अहंकार के साथ बद्धजीव की पहचान भ्रामक है, किन्तु यह पहचान मृत्यु पर्यन्त उसके भीतर भय उत्पन्न करती रहती है।

आत्मैव तदिदं(वँ) विश्वं(म्), सृज्यते सृजति प्रभुः ।

त्रायते त्राति विश्वात्मा, ह्रियते हरतीश्वरः ॥ 6॥

उद्धव जी! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। वही सर्वशक्तिमान् भी है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही, उपादान-कारण भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मा- दन्यो भावो निरूपितः ।

निरूपितेयं(न्) त्रिविधा, निर्मूला भातिरात्मनि ।

इदं(ङ्) गुणमयं(वँ) विद्धि, त्रिविधं(म्) मायया कृतम् ॥ 7॥

अवश्य ही व्यवहार दृष्टि से देखने पर आत्मा इस विश्व से भिन्न है; परन्तु आत्मदृष्टि से उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है। उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता और अनिर्वचनीय तो केवल आत्मस्वरूप ही है; इसलिये आत्मा में सृष्टि-स्थिति

संहार अथवा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-ये तीन-तीन प्रकार की प्रतीतियाँ सर्वथा निर्मूल ही हैं। न होने पर भी यों ही प्रतीत हो रही हैं। यह सत्त्व, रज और तम के कारण प्रतीत होने वाली द्दष्टा-दर्शन-द्दश्य आदि की त्रिविधता माया का खेल है।

एतद् विद्वान् मदुदितं(ञ्), ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।

न निन्दति न च स्तौति, लोके चरति सूर्यवत् ॥ 8॥

जिसने मेरे द्वारा यहाँ पर वर्णित सैद्धान्तिक तथा अनुभूत ज्ञान में स्थिर होने की विधि को भलीभाँति समझ लिया है, वह भौतिक निन्दा या स्तुति में रत नहीं होता। वह इस जगत में सूर्य की तरह सर्वत्र स्वतंत्र होकर विचरण करता है।

प्रत्यक्षेणानुमानेन, निगमेनात्मसं(वँ)विदा ।

आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा, निः(स्)सं(ङ्)गो विचरेदिह ॥ 9॥

प्रत्यक्ष अनुभूति, तर्कसंगत निगमन, शास्त्रोक्त प्रमाण तथा आत्म अनुभूति द्वारा मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इस जगत का आदि तथा अन्त है, अतएव यह परम सत्य नहीं है। इस तरह मनुष्य को निर्लिप्त होकर इस जगत में रहना चाहिए।

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य, सं(म्)सृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।

अनात्मस्वद्दशोरीश, कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ 10॥

उद्धव जी! ने पूछा- 'भगवन्! आत्मा है द्दष्टा और देह है द्दश्य। आत्मा स्वयं प्रकाश है और देह है जड़। ऐसी स्थिति में जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीर को हो सकता है और न आत्मा को। परन्तु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसे है?

आत्माव्ययोऽगुणः(श्) शुद्धः(स्), स्वयं(ञ्)ज्योतिरनावृतः ।

अग्निवद्दारुवदचिद्- देहः(ख्) कस्येह सं(म्)सृतिः ॥ 11॥

आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणों से रहित, शुद्ध, स्वयं प्रकाश और सभी प्रकार के आवरणों से रहित है; तथा विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है। आत्मा अग्नि के समान प्रकाशमान है तो शरीर काठ की तरह अचेतन। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे?

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणै- रात्मनः सन्निकर्षणम् ।

सं(म्)सारः(फ्) फलवां(म्)स्ताव- दपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥ 12॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- वस्तुतः प्रिय उद्धव! संसार का अस्तित्व नहीं है तथापि जब तक देह, इन्द्रिय और प्राणों के साथ आत्मा कि सम्बन्ध-भ्रान्ति है, तब तक अविवेकी पुरुष को वह सत्य-सा स्फुरित होता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि, सं(म्)सृतिर्न निवर्तते ।

ध्यायतो विषयानस्य, स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ 13॥

जैसे स्वप्न में अनेकों विपत्तियाँ आती हैं, पर वास्तव में वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटने तक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसार के न होने पर भी जो उसमें प्रतीत होने वाले विषयों का चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसार की निवृत्ति नहीं होती।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य, प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।

स एव प्रतिबुद्धस्य, न वै मोहाय कल्पते ॥ 14॥

जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है, तब नींद टूटने के पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उसकी नन्द टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्न की विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होने वाले मोह आदि विकार।

शोकहर्षभयक्रोध- लोभमोहस्पृहादयः।

अहं(ङ्)कारस्य दृश्यन्ते, जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥ 15॥

उद्धव जी! अहंकार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्यु का शिकार बनता है। आत्मा से तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो,

जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।

सूत्रं(म्) महानित्युरुधेव गीतः(स्),

सं(म्)सार आधावति कालतन्त्रः ॥ 16॥

जो जीव अपनी पहचान गलती से अपने शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन से करता है और जो इन आवरणों के भीतर रहता है, वह अपने ही बद्ध भौतिक गुणों तथा कर्म का रूप धारण करता है। वह समग्र भौतिक भक्ति के सापेक्ष विविध उपाधियाँ ग्रहण करता है और इस तरह, परम काल के कठोर नियंत्रण में, संसार के भीतर इधर-उधर दौने के लिए बाध्य होता है।

अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं(म्),

मनोवचः(फ्)प्राणशरीरकर्म ।

ज्ञानासिनोपासनया शितेनच्-

छित्त्वा मुनिर्गां(वँ) विचरत्यतृष्णः ॥ 17॥

वास्तव में मन, वाणी, प्राण और शरीर अहंकार के ही कार्य हैं। यह है तो निर्मूल, परन्तु देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपों में इसी की प्रतीति होती है। मननशील पुरुष उपासना की शान पर चढ़ाकर ज्ञान की तलवार को अत्यन्त तीखी बना लेता है और उसके द्वारा देहाभिमान का-अहंकार का मूलोच्छेद करके पृथ्वी में दिर्द्वंद होकर विचरता है। फिर उसमें किसी प्रकार की आशा-तृष्णा नहीं रहती।

ज्ञानं(वँ) विवेको निगमस्तपश्च,

प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।

आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं(ङ्),

कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥ 18॥

असली आध्यात्मिक ज्ञान तो आत्मा और पदार्थ के विवेक पर आधारित है और इसका अनुशीलन शास्त्रों के प्रमाण, तपस्या, प्रत्यक्ष अनुभूति, पुराणों के ऐतिहासिक वृत्तान्तों के संग्रहण तथा तार्किक निष्कर्षों द्वारा किया जाता है। परब्रह्म जो अकेला इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व विद्यमान था और जो इसके संहार के बाद भी बचा रहेगा, वही काल तथा परम कारण भी है। इस सृष्टि के मध्य में भी एकमात्र परब्रह्म वास्तविक सत्य है।

यथा हिरण्यं(म्) स्वकृतं(म्) पुरस्तात्,

पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।

तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं(न्),

नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥ 19॥

उद्धव जी! सोने के कंगन, कुण्डल आदि बहुत-से आभूषण बनते हैं; परन्तु जब वे गहने नहीं बने थे, तब भी सोना था और जब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा। इसलिये जब बीच में उसके कंगन-कुण्डल आदि अनेकों नाम रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह सोना ही है। ठीक ऐसे ही जगत् का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। वास्तव में मैं ही सत्य तत्त्व हूँ।

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमं(ङ्)ग,

गुणत्रयं(ङ्) कारणकार्यकर्तृ ।

समन्वयेन व्यतिरेकतश्च,

येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥ 20॥

भाई उद्धव! मन की तीन अवस्थाएँ होती हैं-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन अवस्थाओं के कारण तीन ही गुण हैं सत्त्व, रज और तम, और जगत् के तीन भेद हैं-अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि) और अधिदैव (कर्ता)। ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्ता से सत्य के समान प्रतीत होती हैं और समाधि आदि में यह त्रिविधता न रहने पर भी जिसकी सत्ता बनी रहती हैं, वह तुरीयतत्त्व-इन तीनों से परे और इनमें अनुगत चौथा ब्रह्मतत्त्व ही सत्य है।

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्-

मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।

भूतं(म्) प्रसिद्धं(ञ्) च परेण यद् यत्,

तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा ॥ 21॥

जो उत्पत्ति से पहले नहीं था और प्रलय के पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीच में भी वह है नहीं-केवल कल्पना मात्र, नाम मात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ-सत्ता है-यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो,

वैकारिको राजससर्ग एषः ।

ब्रह्म स्वयं(ञ्)ज्योतिरतो विभाति,

ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥ 22॥

यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होने पर भी दीख रही है। यह स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पंचभूतादि जितने चित्र-विचित्र नाम रूप हैं उनके रूप में ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है।

एवं(म्) स्फुटं(म्) ब्रह्मविवेकहेतुभिः(फ्),

परापवादेन विशारदेन ।

छित्त्वाऽऽत्मसन्देहमुपारमेत,

स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥ 23॥

ब्रह्मविचार के साधन हैं-श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति। उसमें सहायक हैं-आत्मज्ञानी गुरुदेव! इनके द्वारा विचार करके स्पष्ट रूप से देहादि अनात्म पदार्थों का निषेध कर देना चाहिये। इस प्रकार निषेध के द्वारा आत्मविषयक सन्देहों को छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्दस्वरूप आत्मा में ही मग्न हो जाये और सब प्रकार की विषयवासनाओं से रहित हो जाये।

नात्मा वपुः(फ्) पार्थिवमिन्द्रियाणि,

देवा ह्यसुर्वायुर्जलं(म्) हुताशः ।

मनोऽन्नमात्रं(न्) धिषणा च सत्त्व-

महं(ङ्)कृतिः(ख्) खं(ह्) क्षितिरर्थसाम्यम् ॥ 24॥

निषेध करने की प्रक्रिया यह है कि पृथ्वी का विकार होने के कारण शरीर आत्मा नहीं है। इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ-देवता प्राण वायु, जल अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीर के समान ही अन्न के द्वारा होता है। बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश , पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणों की साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड़ हैं।

समाहितैः(ख्) कः(ख्) करणैर्गुणात्मभि*र्-

गुणो भवेन्म*त्सुविवि*क्तधाम्नः ।

वि*क्षि*प्यमाणैरुत किं(न्) नु दूषणं(ङ्),

घनैरुपेतैर्विगतै रवेः(ख्) किम् ॥ 25॥

उद्धव जी! जिसे मेरे स्वरूप का भलीभाँति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियाँ और इन्द्रियाँ यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे लाभ क्या है? और यदि वे विक्षिप्त रहती हैं तो उनसे हानि भी क्या है? क्योंकि अन्तःकरण और बाह्यकरण-सभी गुणमय हैं और आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भला, आकाश में बादलों के छा जाने अथवा तितर-बितर हो जाने से सूर्य का क्या बनता-बिगड़ता है?

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणैर्-

गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।

तथाक्षरं(म्) सत्त्वरज*स्तमोमलै-

रहं(म्)मतेः(स्) सं(म्)सृतिहेतुभिः(फ्) परम् ॥ 26॥

आकाश अपने में से होकर गुजरने वाली वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के विविध गुणों को और उसी के साथ उष्मा तथा शीत के गुणों को भी प्रदर्शित कर सकता है, जो ऋतुओं के अनुसार निरन्तर आते-जाते रहते हैं। फिर भी, आकाश कभी भी इन गुणों से बँधता नहीं। इसी प्रकार परब्रह्म सतो, रजो तथा तमोगुणों के दूषणों से कभी बँधता नहीं क्योंकि ये मिथ्या अहंकार का भौतिक विकार उत्पन्न करने वाले हैं।

तथापि सं(ङ्)गः(फ्) परिवर्जनीयो,

गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।

मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्-

रजो निरस्येत मनः(ख्)कषायः ॥ 27॥

उद्धव जी! ऐसा होने पर भी तब तक इन मायानिर्मित गुणों और उनके कार्यों का संग सर्वथा त्याग देना चाहिये, जब तक मेरे सुदृढ़ भक्तियोग के द्वारा मन का रजोगुणरूप मल एकदम निकल न जाये।

यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां(म्),

पुनः(फ्) पुनः(स्) सं(न्)तुदति प्ररोहन् ।

एवं(म्) मनोऽपक्वकषायकर्म,

कुयोगिनं(वँ) विध्यति सर्वसं(ङ्)गम् ॥ 28॥

उद्धव जी! जैसे भलीभाँति चिकित्सा न करने पर रोग का समूल नाश नहीं होता, वह बार-बार उभरकर मनुष्य को सताया करता है; वैसे ही जिस मन की वासनाएँ और कर्मों के संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त है, वह बार-बार अधूरे योगी को बेधता रहता है और उसे कई बार योगभ्रष्ट भी कर देता है।

कुयोगिनो ये विहितान्तरायैर्-

मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः।

ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो,

युञ्जन्ति योगं(न्) न तु कर्मतन्त्रम् ॥ 29॥

देवताओं के द्वारा प्रेरित शिष्य-पुत्र आदि के द्वारा किये हुए विघ्नों से यदि कदाचित् अधूरा योगी मार्गच्युत हो जाये तो भी वह अपने पूर्वाभ्यास के कारण पुनः योगाभ्यास में ही लग जाता है। कर्म आदि में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः,

केनाप्यसौ चोदित आनिपतात् ।

न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि

निवृत्ततृष्णः(स्) स्वसुखानुभूत्या ॥ 30॥

उद्धव जी! जीव संस्कार आदि से प्रेरित होकर जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त कर्म में ही लगा रहता है और उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारों को प्राप्त होता रहता है। परन्तु जो तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, वह प्रकृति में स्थित रहने पर भी संस्कारानुसार कर्म होते रहने पर भी उनमें

इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारों से युक्त नहीं होता; क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार से उसकी संसार सम्बन्धी सभी आशा-तृष्णाएँ पहले से ही नष्ट हो चुकी होती हैं।

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं(म्),

शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।

स्वभावमन्यत् किमरीहमान-

मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥ 31॥

जो अपने स्वरूप में स्थित हो गया है, उसे इस बात का भी पता नहीं रहता कि शरीर खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा और कोई स्वाभाविक कर्म कर रहा है; क्योंकि उसकी वृत्ति तो आत्मस्वरूप में स्थित-ब्रह्माकार रहती है।

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं(न्),

नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।

न मन्यते वस्तुतया मनीषी

स्वाप्नं(यँ) यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥ 32॥

यदि ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में इन्द्रियों के विविध बाह्य विषय, जो कि असत् हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मा से भिन्न नहीं मानता, क्योंकि वे युक्तियों, प्रमाणों और स्वानुभूति से सिद्ध नहीं होते। जैसे नींद टूट जाने पर स्वप्न में देखे हुए और जागने पर तिरोहित हुए पदार्थों को कोई सत्य नहीं मानता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपने से भिन्न प्रतीयमान पदार्थों को सत्य नहीं मानते।

पूर्वं(ङ्) गृहीतं(ङ्) गुणकर्मचित्र-

मज्ञानमात्मन्यविविक्तमं(ङ्)ग।

निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव

न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥ 33॥

उद्धव जी! अनेकों प्रकार के गुण और कर्मों से युक्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञान के कारण आत्मा से अभिन्न मान लिये गये थे, उनका विवेक नहीं था। अब आत्मदृष्टि होने पर अज्ञान और उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये अज्ञान की निवृत्ति ही अभीष्ट है। वृत्तियों के द्वारा न तो आत्मा का ग्रहण हो सकता है और न त्याग।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां(न्),

तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते ।

एवं(म्) समीक्षा निपुणा सती मे,

ह*न्यात्तमिस्रं(म्) पुरुष*स्य बु*द्धेः ॥ 34॥

जैसे सूर्य उदय होकर मनुष्यों के नेत्रों के सामने से अन्धकार का परदा हटा देते हैं, किसी नयी वस्तु का निर्माण नहीं करते, वैसे ही मेरे स्वरूप का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान पुरुष के बुद्धिगत अज्ञान का आवरण नष्ट कर देता है। वह इदंरूप से किसी वस्तु का अनुभव नहीं कराता।

एष* स्वयं(ञ्)ज्योतिरजोऽप्रमेयो,

महानुभूतिः(स्) सकलानुभूतिः ।

एकोऽद्वितीयो वचसां(वँ) विरामे,

येनेषिता वागसव*श्चरन्ति ॥ 35॥

परमेश्वर स्वतः प्रकाशित, अजन्मा तथा अप्रमेय हैं। वे शुद्ध दिव्य चेतना हैं और हर वस्तु का अनुभव करते हैं। वे अद्वितीय हैं और जब सामान्य शब्द काम करना बन्द कर देते हैं, तभी उनकी अनुभूति होती है। उनके द्वारा वाक्शक्ति तथा प्राणों को गति प्राप्त होती है।

एतावानात्मसम्मोहो, यद् विक*ल्प*स्तु केवले ।

आत्मन्नृते स्वमात्मान, मवल*म्बो न य*स्य हि ॥ 36॥

उद्धव जी! अद्वितीय आत्मतत्त्व में अर्थहीन नामों के द्वारा विवधता मान लेना ही मन का भ्रम है, अज्ञान है। सचमुच यह बहुत बड़ा मोह है, क्योंकि अपने आत्मा के अतिरिक्त उस भ्रम का भी और कोई अधिष्ठान नहीं है। अधिष्ठान-सत्ता में अध्यस्त की सत्ता है ही नहीं। इसलिये सब कुछ आत्मा ही है।

यन्नामाकृतिभि*र्ग्राह्यं(म्),पं(ञ्)चवर्णमबाधितम्।

व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं(न्) द्वयं(म्) प*ण्डितमानिनाम् ॥ 37॥

बहुत-से पण्डिताभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पाञ्चभौतिक द्वैत विभिन्न नामों और रूपों के रूप में इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिये सत्य है। परन्तु यह तो अर्थहीन वाणी का आडम्बर मात्र है; क्योंकि तत्त्वतः तो इन्द्रियों की पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, फिर वे किसी को प्रमाणित कैसे करेंगी?

योगिनोऽपक्वयोग*स्य युं(ञ्)जतः काय उ*त्थितैः ।

उपसर्गैर्वि*हन्येत त*त्रायं(वँ) विहितो विधिः ॥ 38॥

उद्धव जी! यदि योग साधना पूर्ण होने के पहले ही किसी साधक का शरीर रोगादि उपद्रवों से पीड़ित हो, तो उसे इन उपायों का आश्रय लेना चाहिये।

योगधारणया कां(म्)श्चिदासनैर्धारणान्वितैः।

तपोमन्त्रौषधैः(ख्) कां(म्)श्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥ 39॥

गरमी-ठंडक आदि को चन्द्रमा-सूर्य आदि की धारणा के द्वारा, वात आदि रोगों को वायु धारणा युक्त आसनों के द्वारा और ग्रह-सर्पादिकृत विघ्नों को तपस्या, मन्त्र एवं ओषधि के द्वारा नष्ट कर डालना चाहिये।

कां(म्)श्चिन्ममानुध्यानेन, नामों(ङ्)कीर्तना दिभिः ।

योगेश्वरानुवृत्त्या वा, हन्यादशुभदान् शनैः ॥ 40॥

काम-क्रोध आदि विघ्नों को मेरे चिन्तन और नाम-संकीर्तन आदि के द्वारा नष्ट करना चाहिये। तथा पतन की ओर ले जाने वाले दम्भ-मद आदि विघ्नों को धीरे-धीरे महापुरुषों की सेवा के द्वारा दूर कर देना चाहिये।

केचिद् देहमिमं(न्) धीराः(स्), सुकल्पं(वँ) वयसि स्थिरम् ।

विधाय विविधोपायै- रथ युं(ञ्)जन्ति सिद्धये ॥ 41॥

कुछ योगीजन विविध उपायों से शरीर को रोग तथा वृद्धावस्था से मुक्त कर लेते हैं और उसे शाश्वत तरुण बनाये रखते हैं। इस तरह वे भौतिक योग-सिद्धियाँ पाने के उद्देश्य से योग में प्रवृत्त होते हैं।

न हि तत्कुशलादृत्यं(न्), तदायासो ह्यपार्थकः ।

अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य, फलस्येव वनस्पतेः ॥ 42॥

जो लोग दिव्य ज्ञान में पटु हैं, वे इस योग की शारीरिक सिद्धि को अत्यधिक महत्त्व नहीं देते। निस्सन्देह, वे ऐसी सिद्धि के लिए किये गये प्रयास को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि आत्मा तो वृक्ष के सदृश स्थायी है किन्तु शरीर वृक्ष के फल की तरह विनाशशील है।

योगं(न्) निषेवतो नित्यं(ङ्), कायश्चेत्कल्पतामियात् ।

तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्, योगमुत्सृज्य मत्परः ॥ 43॥

यदि कदाचित् बहुत दिनों तक निरन्तर और आदर पूर्वक योग साधना करते रहने पर शरीर सुदृढ़ भी हो जाये, तब भी बुद्धिमान पुरुष को अपनी साधना छोड़कर उतने में ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। उसे तो सर्वदा मेरी प्राप्ति के लिये ही संलग्न रहना चाहिये।

योगचर्यामिमां(यँ) योगी, विचरन् मदपाश्रयः ।

नान्तरायैर्विहन्येत, निः(स्)स्पृहः(स्) स्वसुखानुभूः ॥ 44॥

जो साधक मेरा आश्रय लेकर मेरे द्वारा कही हुई योग साधना में संलग्न रहता है, उसे किसी भी विघ्न-बाधा डिगा नहीं सकती। उसकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्द की अनुभूति में मग्न हो जाता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे अष्टाविं(म्)शोऽध्यायः॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥